International Journal of Scientific Research in Science and Technology
© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 8 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

कथा साहित्य में लैंगिकता के आयाम और उत्तर आधुनिकता

डॉ. जितेंद्र कुमार भगत
असिस्टेंट प्रोफेसर,
महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

स्कूल की किताबों के आरंभिक पन्नों में गांधी जी का जंतर हुआ करता था, उसे याद करना यहॉ प्रासंगिक लगता है। उसमें कहा गया था कि यदि आपके कृत्य से किसी कमजोर आदमी को लाभ नहीं होता तो वह कृत्य नहीं करना चाहिए। यहॉ कमजोर कौन है, यहॉ दमित कौन है, हाशिए पर कौन है, उपेक्षित और आतंकित कौन है, इसकी पहचान करना ही उत्तर आधुनिकता की चिंता के केंद्र में है। उत्तर आधुनिकता ने एक नए तरह के विमर्श को जन्म दिया और उसकी सबसे उल्लेखनीय उपलब्धियों में से एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इतिहास के विकास क्रम में जिन मुद्दों अथवा समुदायों को हाशिए पर छोड़ दिया गया था, उसे मुख्य धारा में लाया गया। सभी तरह के अस्मितापरक विमर्श इसी चेतना के उभार हैं। 20वीं सदी के सातवें दशक में पश्चिम में स्त्री आंदोलन, अश्वेत आंदोलन दिखाई देता है, उसी तरह भारत में भी नारीवादी विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श आरंभ होता है। इस आंदोलन या विमर्श के केंद्र में उस समुदाय का दर्द है, जिन्हें कहीं न कहीं उपेक्षा और उत्पीड़न का सामना करना पड़ा है।

इतिहास में जिन लोगों का जिक्र नहीं मिलता है या जिन्हें जानबूझकर इतिहास में जगह नहीं मिलती, इस समाज में हाशिए पर पडे उन लोगों की भी जगह कम नहीं। आधुनिकतावाद में राजनीति को इतना महत्व मिला कि इससे बाकी चीजें ओझल हो गई। यह सही है कि राजनीतिक परिवर्तन समाज और चिंतन की दिशा-दशा तय करती हैं लेकिन राज्य और राजनीति आम लोगों के दैनिक जीवन और व्यवहार में उतना हस्तक्षेप

नहीं करती, जितना हस्तक्षेप बाकी चीजें करती हैं। उदाहरण के लिए आज सोशल मीडिया ने लोगों की चेतना को अपना गुलाम बना लिया है। उत्तर आधुनिकता के इन्हीं विचारों ने राजनीति और इतिहास को नकार कर एक ऐसी चिंतनधारा को जन्म दिया जिसमें दमित, उत्पीड़ित लोगों की अस्मिताओं की बातें थी। फ्रांसिस फुकुयामा ने हेगल के इतिहास दर्शन को उद्धत करते हुए इतिहास के अंत की घोषणा की थी। हेगल के अनुसार इतिहास घटनाओं का नहीं होता, विचारों का होता है। इसी क्रम में सबाल्टर्न इतिहास की धारा का विकास हुआ, जहां छोटी-छोटी अस्मिताओं को जगह देने का प्रयास किया जाने लगा। इन्होंने पुनर्जागरण के मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाया क्योंकि यूरोप में इसकी परिणति उपनिवेशवाद और आर्थिक शोषण के रूप में हुई। इसी तरह भारत के स्वाधीनता आंदोलन के महिमामंडन में कुछ जरूरी सवाल दबा दिए गए। सबाल्टर्न इतिहास की यह धारा उत्तर आधुनिक चिंतन का परिणाम है। पिछले दो दशक से लोक साहित्य, आदिवासी साहित्य, बोलियों में लिखा गया साहित्य, पटरी साहित्य या लोकप्रिय साहित्य को काफी महत्व दिया जाने लगा और उसे भी मुख्य धारा में लाने का प्रयास किया गया। मातृभाषा को मानक भाषा से कमतर देखनेवाली दृष्टि पर प्रश्नचिह्न लगाए जाने लगे। बोलियों का मानक भाषा में घुसपैठ कुछ ज्यादा नजर आने लगा। इस तरह छोटी-छोटी अस्मिताओं के उभार ने अपनी जगह बनानी शुरू की।

वैसे तो अस्मितापरक आंदोलनों में दलित विमर्श, अश्वेत आंदोलन, छात्र आंदोलन, आदिवासी विमर्श शामिल है लेकिन विवेच्य विषय के लिए लैंगिकता को केंद्र में रखा गया है। यहॉ लैंगिकता का संदर्भ समाज में जेंडर अस्मिता और उसके जटिल संबंधों से संबद्ध है। जेंडर अस्मिता में नारी आंदोलन का फलक ज्यादा विस्तृत है जहॉ स्त्री के सामाजिक-सांस्कृतिक छवि के अनुसार पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जीने के लिए मजबूर होना पड़ता है। पारिवारिक संस्थान हो या वैवाहिक संस्थान अथवा औद्योगिक-पूंजीवादी संस्थान- उसे हर जगह पुरूषवादी मानसिकता के कारण उत्पीड़न झेलना पड़ता है। 1990 के बाद महिला कथाकारों ने इस पीड़ा को मजबूती से सामने रखा है। चित्रा मुदगल, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री, अनामिका, अलका सरावगी, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग जैसी लेखिकाओं ने

पितृसत्तामक परतों को अपने अनुभवों से सींचकर खोला है। नारीवादी आंदोलन का भारतीय संस्करण इनके साहित्य में आरोपित नहीं लगता, बल्कि उसकी जरूरत का आभास बराबर बना रहता है। हिंदी साहित्य में जेंडर-विमर्श के तहत स्त्री-पुरूष के संबंधों, अंतर्संबंधों का मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक विश्लेषण की बहुतायत है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत अनुकूलन की प्रवृति, विवाह विधान, स्त्री अधिकार, औद्योगिक संस्थानों में किया जानेवाला भेदभाव जैसे तमाम विषय और इन विषयों पर लिखे गए साहित्य अपरिमित हैं।

जेंडर अस्मिता के दायरे में स्त्री-पुरूष के संबंधों को व्यापक स्तर पर परखा गया, इस पर साहित्य भी काफी लिखा गया और आलोचना की कसौटी भी निर्मित हुई, मगर थर्ड-जेंडर यानी किन्नरों को केंद्र में रखकर साहित्य रचना पिछले शताब्दी में नगण्य ही रहा। इनके अतिरिक्त एल.जी.बी.टी समुदाय की अस्मिता की लड़ाई को शामिल किया जाना चाहिए। एल.जी.बी.टी.क्यू का संबंध स्त्री-पुरूष के यौन अभिरूचि से है जबकि किन्नर अपूर्ण यौनांगो का मसला है। किन्नर देह की यह अपूर्णता केवल शारीरिक समस्या नहीं है बल्कि यह सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न से भी जुडा है। जिस तरह महिलाओं ने स्त्री विमर्श को अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी प्रतिबद्धता प्रदर्शित की, उस तरह किन्नरों में इसका सर्वथा अभाव है। इसका स्पष्ट कारण उनमें शिक्षा का अभाव और उनकी उपस्थिति हाशिए के नीचले पायदान पर होना है। इसलिए जिन रचनाकारों ने इनके जीवन और व्यवहार को गहराई से समझा, उन्हें कथानक के केंद्र में रखा, ऐसे रचनाकारों के प्रति इस बात के लिए आभार प्रकट करना चाहिए। यौनिकता के आधार पर किया जानेवाला भेदभाव लैंगिक विमर्श को जन्म देता है। स्त्री-पुरूष अथवा किन्नरों की जैविक संरचना उसके सामाजिक-सांस्कृतिक छवि को गढ़ने का काम करती है।

मछिन्द्र मोरे ने किन्नर समाज पर आधारित एक नाटक लिखा था- 'जानेमन'। मंडी हाउस में इस नाटक का जीवंत मंचन देखने के बाद मुझे पहली बार किन्नर समाज के रहन-सहन, भाषा, व्यवहार और परंपरा को नजदीक से समझने का मौका मिला। हैरानी

नहीं कि इनके जीवन की त्रासदी को देखकर कभी हतप्रभ हो जाएंगे, तो कभी विचलित हो जाएंगे। भारतेंदु या प्रसाद के नाटक में हिजड़े एक पात्र के रूप में आते हैं और गुम हो जाते हैं। उन्हें वहां हास-परिहास और मनोरंजन के लिए रखा जाता है। महाभारत में शिखंडी और बृहन्नला का जिक्र आता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'किन्नर देश' नाम से यात्रा वृत्तांत लिखा। इस सदी के आरंभ में यह अस्मिता का उभार ही है कि अब उन्हें केंद्र में रखकर रचनाएं लिखी जाने लगी। महेंद्र भीष्म (मैं पायल, 2016), भगवंत अनमोल (जिन्दगी 50-50, वर्ष 2017) नीरजा माधव (यमदीप 2002), चित्रा मुदगल (पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा, 2006), डॉ.अनसूया त्यागी (मैं भी औरत हूँ, 2005) लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी (मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी, 2015), निर्मला भुराडिया (गुलाम मंडी, 2013), प्रदीप सौरभ (तीसरी ताली, और सिर्फ तितली) जैसे रचनाकारों ने किन्नर-विमर्श को एक नई धार दी है। जाहिर है इन सभी में किन्नर जीवन के उहापोह को शब्द दिया गया है।

'किन्नर कथा' उपन्यास (महेंद्र भीष्म, 2010) में सोना (चंदा) के माध्यम से किन्नर जीवन की व्यथा को दर्शाया गया है। इन्हें जन्म से ही सामाजिक निर्वासन झेलना पड़ता है। सामान्य मनुष्य की तरह इन्हें भी सुख-दुख का अहसास होता है, प्रेम और विरह भी आम मनुष्यों की तरह ही महसूस होता है। 'मैडनेस एंड सिविलाइजेशन' में फूको लिखते हैं कि पागल व्यक्ति को असामाजिक समझा जाता है। पागलपन अज्ञानता का लक्षण नहीं बल्कि एक मानसिक बीमारी है। मनोचिकित्सा के खोज के बाद उन्हें 'जंजीरों' से मुक्त कर दिया जाता है मगर 'एक नैतिक दुनिया में कैद' कर दिया जाता है। पागलखाना एक 'विशाल नैतिक कारावास' की तरह होता है।[1] किन्नरों को इस नजरिए से देखे तों उनके अधूरे शरीर को ईश्वरीय सर्जना में एक चूक के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, लेकिन सिर्फ इस आधार पर उन्हें मौलिक आधार से वंचित नहीं किया जा सकता। किन्नरों को छक्का, हिजड़ा, उभयलिंगी, जनखा, थर्ड जेंडर आदि संबोधनों से इंगित किया जाता है।

[1] Foucault, a very short introduction, Gary Gutting, page 71

15 अप्रैल 2014 को उच्चतम न्यायालय ने थर्ड जेंडर को पिछड़ा वर्ग मानकर सुविधाएं देने का निर्देश दिया। इस आदेश के बाद चिकित्सीय जॉच से असली और नकली किन्नरों की पहचान सामने आने लगी। इन असली किन्नरों को मुख्य धारा में लाना ही सरकार का मुख्य ध्येय है, जहां उन्हें सामाजिक पहचान दिलाई जा सके, रोजगार देकर उन्हें दर-दर भटकने से रोका जा सके। इस प्रक्रम में कई किन्नरों ने प्रतिष्ठा प्राप्त किया, रूद्राणी एक मॉडल के रूप में जानी जाती है, पदमिनी प्रकाश एक न्यूज एंकर है, मानवी बंद्योपाध्याय प्रिंसिपल है। राजनीति के क्षेत्र में शोभा नेहरू, बसंती, शबनम मौसी, मधु जैसे किन्नरों ने अपनी पहचान बनाई है।

एल.जी.बी.टी.क्यू (लेस्बियन, गे, बाइसेक्सुअल, ट्रांसजेंडर और क्वीयर) लैंगिक रिश्तों और यौन अभिरूचियों पर आधारित संबंधों से निर्मित होता है। इस समुदाय को आम तौर पर समलैंगिकता के अंतर्गत ही रखा जाता है। लार्ड मैकाले ने 1861 में धारा 377 के तहत समलैंगिक रिश्तों को अप्राकृतिक यौन संबंध मानते हुए अपराध की श्रेणी में रखा था। नाज फाउंडेशन ने 2001 में इसके खिलाफ याचिका दायर की थी। और भी कई संगठन थे जो इस प्रयास में शामिल थे। उच्चतम न्यायालय में समलैंगिकता का मामला वर्षों से लंबित है। दुनिया के कई देशों में इसे अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जाता। इन देशों में संवैधानिक अधिकार मिल जाने से ऐसे समुदायों को काफी राहत मिलती है लेकिन एक परंपरागत समाज में अपना स्थान सुनिश्चित करना आसान नहीं है। फूको समलैंगिक थे लेकिन परंपरागत समाज के सामने इसे स्वीकार करने में उन्हें भी असुविधा हुई।[2] एवलिन हूकर अमेरिका की एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थी, जिन्होंने अपने शोध के आधार पर यह स्पष्ट किया कि समलैंगिकता कोई मनोरोग नहीं है।[3]

हिन्दी कथा-साहित्य के लिए समलैंगिकता पर हिंदी साहित्य में पहले भी कई रचनाएं मिलती हैं जिनमें इस्मत चुगतई का `लिहाफ` कहानी काफी चर्चित रहा है। इसी क्रम में निराला का `कुल्ली भाट` और रेणु का `रसपिरिया` कहानी भी शामिल है। राजकमल चौधरी

[2] Foucault, a very short introduction, Gary Gutting, page 91
[3] https://en.wikipedia.org/wiki/Evelyn_Hooker

ने `मछली मरी हुई` उपन्यास में इस मुद्दे को संजीदगी से प्रस्तुत किया। सुरेंद्र वर्मा का `दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता` और पंकज बिष्ट का `पंखों वाली नाव` भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

उत्पीड़क और उत्पीड़ित की संरचना में पर्याप्त अंतर्विरोध और जटिलता पाई जाती है। अस्मितापरक विमर्श में हाशिए पर पड़े लोगों को उत्पीड़ित माना गया लेकिन उत्तर आधुनिकता एक अर्थ में इसे भी नकारने का अवसर देता है। उदाहरण के लिए दलित विमर्श में दलित को उत्पीड़ित माना गया है लेकिन यह संभव है कि उस दलित परिवार की कोई स्त्री अपने पति, पिता या पुत्र के कारण दमित होती हो। यह भी संभव है कि वह परिवार की किसी स्त्री से ही पीड़ित हो। इसी तरह समाज में उत्पीड़ित कौन है, इसकी पहचान करना सरल नहीं है। कई बार इस पहचान का सरलीकरण कर दिया जाता है जिससे फिर किसी के ओझल रह जाने का खतरा बढ़ जाता है। स्त्री-विमर्श के आवेग में कई बार पुरूषों की समस्या को नजरअंदाज कर दिया जाता है और हास-परिहास में दबा दिया जाता है। लेकिन स्त्रियों के कुचक्र में फंसकर कई पुरूष भी कानूनी पचड़ों में उलझ जाते हैं, आत्महत्या तक कर लेते हैं। ऐसे लोगो की आवाज भी सुनी जानी चाहिए, कुछ स्वायत्त समूह इस दिशा में कार्य कर रहे हैं, लेकिन साहित्य रचना के स्तर पर यह विषय लगभग नदारत हैं।

कथा साहित्य में यौनपरक यथार्थ को जिस भाषा में प्रस्तुत किया जा रहा है, वह नैतिकता के विपरीत नजर आ सकता है मगर उत्तर आधुनिक चिंतन में भाषा के दमनकारी शक्ति पर प्रकाश डाला गया है। उत्तर आधुनिक चिंतन में भाषा के भीतर ही यर्थाथ की तलाश की जाती है। दमन का प्रतिरोध भाषा के भीतर ही नजर आना चाहिए। भाषा के माध्यम से जो दमन किया जाता है वह वास्तविक दमन से कहीं ज्यादा मारक होता है। उदाहरण के लिए दलित लेखन में गालियों का बेबाक प्रयोग देखने को मिलता है। उसकी आलोचना भी होती है लेकिन दलितों के उत्पीड़न को उभारने के लिए यह बेबाकपन एक कारगर हथियार साबित होता है। रोलां बार्थ ने अपने बहुचर्चित लेख 'लेखक की मृत्यु' में पाठ को

केंद्र में रखा और लेखक के देश-काल को आलोचना से बाहर कर दिया। लेखक के अभिप्राय के स्थान पर पाठ की संरचना और उससे प्रकट होने वाले अर्थ को अधिक महत्व दिया गया। इस अर्थ में यह रचनाकार के लैंगिक पहचान और वर्गीय अस्मिता को अनुपयोगी मानता है, इसलिए उत्तर आधुनिक चिंतन की सीमाओं को भी समझना होगा। दलित या स्त्री के भोगे हुए यथार्थ को नकारा नहीं जा सकता। इनके लेखन को लैंगिक या वर्गीय पहचान से बाहर करके ऑकना कहीं न कहीं इन्हें मुख्य धारा से बाहर करने का उपक्रम साबित होगा।

संदर्भ ग्रंथ

1) सुधीश पचौरी, हिन्दुत्व और उत्तर-आधुनिकता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-51, प्रथम-2002

2) सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिक प्रस्थान बिंदु (उपभोक्ता संस्कृति के चिह्न), आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-61, प्रथम सं-2000

3) Foucault, a very short introduction, Gary Gutting, oxford university press, 2005

4) इंदु भारती, आधी आबादी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूर्स, दिल्ली, प्रथम- 2005

5) राजकिशोर, स्त्री पुरुष: कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-02, सं-2002

6) जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह, स्त्री अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कोलकाता-7, प्रथम-1994

*****